जैनेन्द्र की कहानियों प्रेम तत्व और उसकी व्यथा का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण

डॉ. दीप्ति गौड़[1]

प्रेम एक अद्भुत रस है, जो मनुष्य में साहस, आत्मविश्वास और चेतना सुरभि भर देता है। प्रेम उस अहसास और जज्वात का नाम है जिसमें खुद को भुलाकर, हम जिससे प्रेम करते हैं उसकी खुशी से खुश होते हैं और उसी के दुःख से दुखी। प्रेम की यही परिभाषा है। प्रेम की शुरूआत आकर्षण से होती है और उद्देश्य अपने प्रेमी को पाना रहता है जैसे–जैसे प्रेम उच्चता को प्राप्त करता है, यह लेना नहीं देना हो जाता है। उच्चतम स्तर पर प्रेम स्वामित्व या अधिकार का भाव भी खो देता है। जिंदगी का प्रेम राग उस समय बेसुरा हो जाता है जब आपकी राह उस राह से अलग हो जाती है, जिस पर आप अकेले नहीं बल्कि उनके साथ चले थे जिनके साथ आप उम्र भर चलना चाहते थे। इसे वियोग श्रंगार रस भी कहा जाता है। प्रसिद्ध कवयित्री मीराबाई ने तो अपने प्रेम की व्यथा इस पद में व्यक्त की थीः

"हेरी मैं तो प्रेम दीवाणी, मेरो दरद न जाणै कोय।"

कई बार तो यह दर्द यह व्यथा अश्रुधारा बनकर फूट पड़ती है। अक्सर जब यह पूछा जाता है कि हम सबसे ज्यादा कब रोते हैं? तब जवाब मिलता है विरह में, ये विरह किसी चीज से, उपलब्धि से व्यक्ति से, प्रेम से किसी भी स्थिति में हो सकता है। प्रेम में मिली असफलता की व्यथा अश्रुओं की बाढ़ ला देती है। रूदन मनुष्य का प्राकृतिक गुण है। तनाव की वजह से पैदा हुए अनेक घातक रसायन जिस्म से बाहर निकल जाते हैं। कितना दर्द है इन पक्तियों में प्रेम की व्यथा का, हसरत जयपुरी के शब्दों मेंः

"आँसू तो नहीं हैं आँखों में,
पहलू में मगर दिल जलता है,
होठों पे लहू है हसरत का,
आरा–सा जिगर पर चलता है।"

जैनेन्द्र जी के अनुसार, "प्रेम सहनशील और हठशून्य होता है। प्रिय की प्रेमी से अधिक हित–कामना और कोई भी नहीं कर सकता। प्रेमी प्रिय के अहं को सबसे अधिक जानता–पहचानता है और उसका विकास विस्तार ही उसका लक्ष्य बन जाता है। इससे दोनों को ही समग्र तृप्ति मिलती है और कृतार्थता का अनुभव होता है। इस तृप्ति और कृतार्थता के स्व की सीमायें टूटती और व्यक्ति परोन्मुख–ब्रह्मोन्मुख बनता है। इस प्रकार जैनेन्द्र जी द्वारा की गई सेक्स की व्याख्या नर–नारी के शरीर–संभोग को न तिरस्कृत करती है, न हीं उसमें बंधती है। शरीर–संभोग प्रेम का स्वाभाविक परिणाम भर रह जाता है। प्रधान चीज है प्रेम, जिससे मिली तृप्ति शरीर–संभोग से कहीं गहरी, स्थायी और

[1] एम.ए (भूगोल, हिन्दी साहित्य, मनोविज्ञान, एम.एड., डबल गोल्ड मेडलिस्ट, सर्वांगीण दक्षता हेतु महामहिम राष्ट्रपति, स्वर्ण पदक से सम्मानित

सर्वग्रासी होती है।''

जैनेन्द्र जी के अनुसार हम भूल करते हैं, जब विपरीत लिंगियों में परस्परता, आत्मीयता का अर्थ हम अनिवार्य रूप से कामुकता लगा लेते हैं। उनका विश्वास है कि प्रेम ही कामुकता, आर्थिक स्वार्थ तथा हिंसक महत्वाकांक्षा पर विजय पा सकता है। जैनेन्द्र जी का मन दुनिया में है, वे जीवन से प्रेम करते हैं। प्रेम तत्व और उसकी व्यथा में अवगुंठित जैनेन्द्र जी की कहानियाँ जैनेन्द्र रचनावली खण्ड–5 के भाग सप्तम् व अष्टम् में संग्रहित हैं।

विवाहित जीवन की सफलता जीवन साथी के चुनाव पर निर्भर

विवाहित जीवन की सफलता जीवन साथी के चुनाव पर निर्भर करती है। इस बात को मनोवैज्ञानिक व समाजशास्त्री भी मानते हैं। शनैः–शनैः सामाजिक परिवर्तन आने के कारण आजकल स्त्री–पुरूष द्वारा जीवन साथी का चुनाव स्वयं किया जाने लगा है। इसे प्रेम पर आधारित विवाह कहते है। हालांकि अभी पूर्ण रूप से प्रेम विवाह नहीं बल्कि विवाह माता–पिता व परिवारजनों की सहमति से ही होते हैं। धीरे धीरे प्रेम विवाहों के प्रति समाज में सहिष्णुता या उदारता का दृष्टिकोण पनपने लगा है। जैनेन्द्र जी की कहानी **''एक पन्द्रह मिनट''** में युवक प्रेम विवाह का समर्थक है उसे लगता है कि जब शादी उसे निबाहनी है तो वह अपनी मर्जी से विवाह क्यों नहीं कर सकता? कहानी से प्रस्तुत है ये उद्धरणः

''नहीं, आप अवश्य जानते हैं। मैं अब छब्बीस वर्ष का हूँ, अपना भला बुरा सोच सकता हूँ। इज्जत हैसियत आनी जानी चीज हैं। यों भी वह फर्जी है। शादी इज्जत से तो नहीं होती, न दौलत से होती है। जिससे होती है उसकी तरफ मन न हो तो क्या फायदा? और मजहब, बिरादरी, ये चीजें क्या ऊपरी नहीं हैं? इनसे भेद पड़ता है, पर वही तरक्की रोकता है। इन्सान, इन्सान है और ये फर्क ऊपरी हैं। और यह कैसे बर्दाश्त किया जा सकता है कि बिरादरी दूसरी है और माली हालत में फर्क है तो इसकी वजह से उधर नजर ही न की जा सके? ठीक है, बाप ने पढ़ाया, बड़ा किया है, लेकिन इसका यह मतलब तो नहीं कि मेरा फैसला कुछ हो ही नहीं सकता।

आखिर शादी निबाहनी तो मुझे है। जिम्मेदारी मेरी, मर्जी उनकी। यह चल सकता है, आप ही कहिए।''[1]

''टकराहट'' शीर्षक कहानी में भी प्रेम की सूक्ष्मता व गहनता का परिचय जैनेन्द्र जी ने दिया है। प्रेम करके भी उसकी व्यथा को वर्णित किया है। एक प्रेमी अपने प्रेम का स्थायित्व चाहता है और उसमें टूटने के नाम से ही वह सिहर उठता है। कहानी से एक अंश प्रस्तुत हैः

''लीला – आप हँसते हैं। हँसना निर्दय है। फिर आपके ही सामने मैं आज सब कहूँगी। आपके पास अमरीका से एक तार आया है। जो व्यक्ति आना चाहता है, वह मुझे बेहद प्रेम करता हैं मैं उसके प्रेम को प्रेम करती हूँ। लेकिन उसकी भूख ऐसी है कि वह चाहता है कि मैं उसी के लिए होऊँ। मैं क्या करूँ? औरों ने भी मुझे प्रेम किया है। उन सबके प्रेम को मैंने प्रीतिपूर्वक स्वीकार किया। मैं किसी एक आदमी के लिए किसी दूसरे आदमी के प्रेम को कैसे छोडूँ। मैं कुछ नहीं छोड़ना चाहती। यह आदमी नरक तक मेरा पीछा करना चाहता है कि मुझे स्वर्ग में ले जाए। मुझे उसके सदाशय पर विश्वास है।

[1] जैनेन्द्र कुमार – ''एक पन्द्रह मिनट'' शीर्षक कहानी से उद्धृत, पृ0 334–335

मुझे उसके स्वर्ग पर विश्वास है। पर मैं वह नहीं चाहती। मुझे अपने भाग्य पर विश्वास नहीं है। वह आदमी मुझे इतना प्यार करता है कि उसका सारा प्यार मैं न ले सकी तो अचरज नहीं किया इसी पर वह मुझे मार दे। मुझे मरने से डर नहीं है। उसके हाथों मरना मुझे बुरा न लगेगा। लेकिन मुझे मारने के बाद उसकी क्या हालत होगी, यह सोचती हूँ तो डर जाती हूँ। फिर भी मैं अपने तन को उसके हाथ में नहीं सौंप सकती। मैं विवाह नहीं कर सकती। अब तक जिन्होंने मुझे प्रेम किया, उन सबके प्रति विवाह कृतघ्नता होगी।[1]

अन्तर्जातीय विवाहों को प्रोत्साहन

''वह चेहरा'' नामक कहानी में जैनेन्द्र जी ने अन्तर्जातीय विवाह के संबंध में अपनी लेखनी चलाई है। प्रेम विवाह के संदर्भ में अक्सर अन्तर्जातीयता मध्य में आ जाती है। और जाँति–पाँति विवाह के मामले में बाधक बन जाती है। **जैनेन्द्र जी इस कहानी में कहते हैं। कि "चरित्र खुलता है और धीरे–धीरे खुलता है। चरित्र जब सामने होता है तो चेहरा ओझल होने लगता है।"** अन्तर्जातीय विवाह को प्रोत्साहन देने वाले लड़के–लड़कियों के मार्ग में जाँति–पाँति का हवाला देकर व्यवधान उत्पन्न किए जाते हैं और कई बार तो इसे अस्मिता का प्रश्न बनाकर अत्याचार भी किए जाते हैं। कहानी से एक अवतरण देखिए:

"फिर क्या हुआ? वही हुआ जो होना चाहिए। यानी वैश्य और खत्री जातियों में सम्बन्ध नहीं होना चाहिए था, नहीं हुआ। खत्री कन्या का सम्बन्ध खत्री में ही होना चाहिए था, और तदनुसार विधान और सिद्धान्त की रक्षा में शीघ्रता के साथ व्यवस्था कर दी गयी।

वह चेहरा सदा–सदा अवतरण लेता है, निश्चय ही वह एक–रूप नहीं है, एक–रंग नही है। पर सदैव वह एकात्म है। नियत समय पर वह सबको दीखता है और शायद घर–घर होता है। वह चेहरा आँखों के भीतर पहुँचे बिना नहीं रहता और वहाँ से फिर यह मिटना नहीं जानता। अभी तो मेरा वर्ष पचपनवाँ है। शतायु भी हूँ, तो क्या वह हिल सकेगा। डिग सकेगा? नहीं, भगवान ने चाहा तो वह सम्भव नहीं है। न आप में से किसी के साथ, आप कितना ही चाहें, शायद वह सम्भव बन सकेगा।"[2]

जैनेन्द्र जी के पात्र अपनी कहानियों में नई विचारधारा का प्रतिनिधित्व करते हुए व रूढ़ियों का बहिष्कार करते प्रतीत होते है। कहानी ''प्यार का तर्क'' में भी जैनेन्द्र जी अन्तर्जातीय विवाहों को प्रोत्साहित करते हैं। देखिए एक बानगी:

"कैसे क्या होगा?" "मैंने कहा, "वैसे होगा, जैसे विवाह हुआ करते हैं। अरे, तुम्हारे या उसके माँ–बाप का तो ब्याह होना नहीं है। वह दो जातियों में नहीं होना है। ब्याह लड़के–लड़की का होता है। जाति क्या माथे पर लिखी आती है? किस सोच में पड़े हो? इतने खत हैं। उस बिचारी की मन की भी तो सोचो। घर में रहकर अपना मन तुम्हारे पास भेजती है और दीवार–दरवाजे तोड़कर गाँव–देहात में निकलकर तुम्हारे पास नहीं आ सकती तो तुम यह–सब दोष उस पर डालने लग गये। क्यों कुमार? यह तुम्हारा प्यार है? इतनी ही तुममें उससे हमदर्दी है?"[1]

वैवाहिक रीति–रिवाजों व संस्कारों में गहन मनोवैज्ञानिकता का संधान

जैनेन्द्र जी ने प्रेम, विवाह, के साथ –साथ भारतीय रीति–रिवाजों व संस्कारों को

---

[1] जैनेन्द्र कुमार – ''टकराहट'' शीर्षक कहानी से उद्धृत, पृ0 161
[2] जैनेन्द्र कुमार – ''वह चेहरा'' शीर्षक कहानी से उद्धृत, पृ0 294
[1] जैनेन्द्र कुमार – ''प्यार का तर्क'' शीर्षक कहानी से उद्धृत, पृ0 286

भी अपनी कहानियों मे स्थान दिया है। तथा अत्यंत गहन मनोवैज्ञानिकता का परिचय दिया है कि विवाह के पश्चात् गौने की रस्म होती है इस काल में वर–वधू को अलग–अलग रहना होता है। विवाह के तुरन्त बाद एक दूसरे को समझने का अवसर नहीं मिलता। प्रायः बाल–विवाह के बाद गौने का संस्कार परिवारों में होता है। परन्तु शनैः–शनैः विवाह की उम्र बढ़ने के कारण गौने जैसे रिवाज को नहीं करना पड़ता और वर–वधू में आपसी समझ भी विकसित होने लगती है। **''दर्शन की राह''** शीर्षक कहानी से एक उद्धरण देखिए:

''विवाह के शीघ्र ही बाद पत्नी मैके चली गयी। तुम्हारे यहाँ भी गौने का तो रिवाज है न? विवाह के कुछ काल का अन्तर डालकर द्विरागमन होता है। सो विवाह के अवसर पर तो मानो खुलकर भेंट भी न हो सकी। भली–भाँति तब मैं उन्हें देख भी पाया, इसमें सन्देह है। मंगलाचार की ऐसी कुछ धूम–धाम रही। बहनें थीं और पड़ोस की भाभियां थीं। उनके कारण बहू की इतनी पूछताछ हुई कि वर की याद ही न रखी गयी। और गिनती के ये तीन–चार रोज बीतते–न–बीतते ससुराल से उनके भाई लिवाने आ गये। वह चली गयी।

उस काल मैं अकेला था। अकेला यानी केन्द्र–हीन। मन में बहुत–बहुत आकाक्षाएँ थीं। आकांक्षाएँ किशोर। जी उमगा आता था। मानो भीतर से एक वैभव उछाह में हिलोर लेता, फुहार में फूटकर किसी के आगे झर पड़ना चाहता था।''[1]

जैनेन्द्र जी की एक और कहानी ''राजीव और भाभी' में आकांक्षाओं की तीव्रता का उल्लेख किया गया है। मनुष्य की स्वप्निल आकांक्षाओं को प्रदर्शित करता हुआ यह अवतरण अवलोकनीय है:

''बीस बाईस वर्ष की अवस्था में मनुष्य की आकांक्षाएँ स्वप्निल होती हैं। उनको परवरिश मिले तो वह पनपें, नहीं तो सूखकर मुरझा जाती हैं। और यौवन बीतते–बीतते आदमी अपने को चुका हुआ अनुभव करता है। वे आकांक्षाएँ स्नेह माँगती है। स्नेह अनुकूल समय पर और यथानुपात मिले तो वे हरी–भरी होकर कैसे–कैसे फूल न खिला आएँ, कहा नहीं जा सकता। नहीं तो वे अपने को खाती चुकाती रहती हैं। मूल जिनकी दृढ़ हों, ऐसी प्रकृतियाँ विरोध में से भी रस खींचती हैं अवश्य, और वे मानो चुनौतीपूर्वक बढ़ती रहती हैं। पर इस शक्ति को प्रतिभा कहा जाता है, और प्रतिभा सरल नहीं है, वह तो विरल ही है।''[2]

मानसिक संघर्ष व स्त्री अन्तर्द्वन्द्व की स्पष्ट झाँकी

जब मनुष्य की स्वप्निल आकांक्षाएँ पूर्ण नहीं हो पाती तब मनुष्य के अन्तर्मन में एक संघर्ष की उत्पत्ति हो जाती है। मनुष्य में पाये जाने वाले मानसिक संघर्ष (डमदजंस बवदसिपबज) चेतन व अचेतन दोनों स्तरों पर होता है। जब किसी समस्या के प्रति व्यक्ति में अत्यधिक अन्तर्द्वन्द्व उत्पन्न हो जाता है तो व्यक्ति में चिन्ता उत्पन्न होती है। व्यक्ति की प्रतिष्ठा तथा सामाजिक छवि को हानि पहुंचने का डर रहता है। तो व्यक्ति सुरक्षात्मक प्रयासों के रूप में मनोरचनाओं का प्रयोग करता है। विफलता के प्रति प्रति क्रिया के रूप में व्यक्ति आक्रामक या ध्वंसात्मक व्यवहार का प्रदर्शन करने लगता है। ''सहयोग'' शीर्षक कहानी से स्त्री अन्तर्द्वन्द्व की स्पष्ट झाँकी मिलती है:

''शारदा वहीं–की–वहीं खड़ी अपने इस पति को देखती रही। दस साल हो गये होंगे विवाह को। उसकी आयु तीस पार कर गयी है, फिर भी वह अपने पति को समझ नहीं पायी है। कभी बड़े अबोध लगते हैं। कभी लगता है जैसे सब जानते हों।

---

[1] जैनेन्द्र कुमार – ''दर्शन की राह'' शीर्षक कहानी से उद्धृत, पृ0 222

[2] जैनेन्द्र कुमार – ''राजीव और भाभी'' शीर्षक कहानी से उद्धृत, पृ0 174

कहकहा रूकने पर सहसा वह गम्भीर हो आये। सिगरेट का कश लेकर धीरे–धीरे धुआँ बाहर छोड़ा और धीमे से कहा, ''सुनो, जाओ, हो आओ। अच्छा रहेगा।''

शारदा इस अनबूझ आदमी के सामने होकर कभी विपर्यस्त होती है, तो उसके मन में विद्रोह–सा उठता है। बोली, ''अरे, न जाऊँ तो..... ।''

पति में विशेष परिवर्तन नहीं आया। उसी तरह आँखें आधी मूँदे सिगरेट का धुआँ छोड़ गये। बोले, ''कैसी अच्छी हो! खफा न हो। जाओ, हो आओ।''

सुनकर शारदा के तन–बदन में आग लग आयी। यही चीज है जो इस व्यक्ति की ओर विश्वास के साथ उसे आगे बढ़ने नहीं देती। पर, इसी के कारण, कितने ही प्रयत्न करके, किसी दूसरी तरफ भी वह ज्यादे जा नहीं सकी। गुस्से से भरी हुई बोली, ''आप किसे पुचकार रहे हैं! मैं बच्ची हूँ।''[1]

पति के प्रति विद्रोह ओर स्त्री अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण **''अभागे लोग''** कहानी में भी जैनेन्द्र जी ने बखूबी किया है। कहानी से एक उदाहरण दृष्टव्य है।

''एक और भी कारण है। इस जवान को रोज मण्डली के साथ देखता हूँ। अव्वल तो गणित गलत है। स्त्रियाँ तीन हों तो साथ पुरूष एक नहीं होना चाहिए। यह सिद्धान्त का अतिरेक है। व्यवस्था सिद्धान्त और समाज सिद्धान्त। दूसरे जो सबसे बड़ी बात है वह यह कि निश्चय नहीं है कि जवान सन्तो का पति है। बल्कि निश्चय है कि पति नहीं है। क्योंकि पति हमेशा और होता है। ठिठोली है वहाँ पति कैसे हो सकता है। पक्का है कि नहीं हो सकता। अब आप सोचिए कि कितना बड़ा सवाल पैदा हो जाता है। नैतिक, सार्वजनिक और आध्यात्मिक।''[2]

प्रेम और उसकी व्यथा पर आधारित कहानियों में स्त्री अन्तर्द्वन्द्व बराबर चलता रहता है। स्त्री को प्रतीत होता है कि स्त्री के शरीर से ही पुरूष के शरीर की सृष्टि होती है। फिर भी उसे हमेशा एक पायदान नीचे ही क्यों समझा जाता है। ''प्रणय दंश'' शीर्षक कहानी में स्त्री अन्तर्द्वन्द्व का चरम रूप देखिए:

''कभी उसे लगा है कि सविता की ओर से उसके शरीर पर प्रहार ही न आ पड़े। सविता इतनी मिसमिसा आयी है। दो आदमियों के बीच बातें–ही–बातें रहें, व्यवधान पार न हो, तट परस्पर छू न सकें– यह सहानुभूति का, स्नेह का, सप्राणता का कितना क्रूर उपहास है। सविता इस तटस्थता और अन्यमनस्कता को देखती है और उफन–उफन आती है। उसमें तीव्र तिरस्कार होता है लेकिन यही है, जिसका आकर्षण उसे बेबस किये रहता है। जैसे स्त्रीत्व को चुनौती हो और पुरूष के एकाकिता के कवच को तोड़ना और अनिवार्य हो।''[1]

जैनेन्द्र जी की कहानी ''प्रमिला'' में दो सहेलियों प्रर्मिला और उर्मिला के परस्पर अन्तर्द्वन्द्वों व स्वतंत्रता की परिभाषाओं का अनुपम वर्णन किया गया है। एक नारी के पास जो कुछ है उसे लगता है कि वह घर–गृहस्थी के चक्कर में उलझ गई है इससे तो अच्छी वह नारी है जो स्वावलंबन की राह पकड़कर आर्थिक स्तर पर मजबूत है। पति भी दूर रहते हैं। परन्तु पति से दूरी उर्मिला को सालती रहती है। उसके पति महीने में दो–चार दिन ही उसके पास रह पाते हैं। इस प्रकार दोनों सहेलिया ही अपनी–अपनी जिंदगी में अन्तर्द्वन्द्व व तनाव से झेलती रहती हैं। कहानी से एक उद्धरण देखिए:

---

[1] जैनेन्द्र कुमार – ''सहयोग'' शीर्षक कहानी से उद्धृत, पृ0 362
[2] जैनेन्द्र कुमार – ''अभागे लोग'' शीर्षक कहानी से उद्धृत, पृ0 350
[1] जैनेन्द्र कुमार – ''प्रणय–दंश'' शीर्षक कहानी से उद्धृत, पृ0 386

''हाँ, मौज ही समझो। वक्त खाली है, करने को कुछ नहीं और खर्च की भी फिक्र नहीं। तुझे तो इन सबमें मौज ही दीखेगी। कभी सोचती हूँ प्रमिला, अच्छा ही है कि तू अपनी है, किसी और की नहीं। ब्याह से हम लोग इतनी पत्नी बन जाते हैं कि निज में रह नहीं जाते। इसमें पहले मुझे सुख लगता था। पर अब लगता है कि स्वतन्त्रता जो नहीं है तो असल में वह सुख भी नहीं है।''

''क्या स्वतन्त्रता नहीं है री तुझे?'' प्रमिला ने कहा – ''मन में आए वो करे तो बता कहाँ तुझे बाधा है? पैसा हर वक्त पास है और पति ज्यादा वक्त दूर है। फिर तो स्वतन्त्रता भी है, सुख भी है। क्यों, नहीं?''

''हट'', उर्मिला ने कहा और फिर समझाती–सी बोली– ''तुम नहीं समझोगी प्रमिला। हर वक्त एक प्रतिष्ठा प्राचीर की तरह मेरे चारों ओर लिपटकर इस तरह साथ चलती है कि मैं खुल नहीं सकती। अनुपस्थित की यह उपस्थिति और भी बोझिल हो जाती है। तुम्हारे जीजा होते हैं तो मैं एक बार मनमानी करने की सोच भी सकती हूँ, कभी तो कर तक जाती हूँ। पर पीछे तो मैं उनकी छाया के सिवा कुछ रह नहीं जाती।''

प्रेम कहने को तो बहुत बड़ा शब्द है, इसकी मीमांसा भी बहुत बड़ी है, भक्ति से लेकर मानव मात्र तक सतयुग से लेकर कलयुग तक, आदि से लेकर अन्त तक। प्रेम की मीमांसा समर्पण में निहित है चाहे वह ईश्वर के प्रति हो या अनन्य भक्त के प्रति, दोनों ही रूपों में एक साध्य है और साधन, यदि इसे सांसारिक रिश्ते में देखें तो इसमें केवल संयोग और वियोग की पराकाष्ठाओं से हटकर केवल जीवन का समर्पण ही दिखाई देगा।

संदर्भ सूची

1. जैनेन्द्र कुमार : जैनेन्द्र रचनावली, समग्र कहानियाँ खण्ड चार और पांच में प्रकाशित संपादक निर्मला जैन (12 खण्डों में समग्र साहित्य प्रकाशित), ज्ञानपीठ, पहला संस्करण 2008
2. वेदालंकार, देवेन्द्र कुमार : फ्रायड मनोविष्लेशण (अनुवाद), राजपाल एण्ड सन्स, 1971
3. माथुर, डॉ0 एस0एस0: ''समाज मनोविज्ञान'' विनोद, पुस्तक मन्दिर, आगरा
4. श्रीवास्तव, डॉ0 डी.एन.: ''आधुनिक समाज मनोविज्ञान'', विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा, संस्करण 2007
5. संपादक राजकिशोर : ''स्त्री–पुरूष कुछ पुनर्विचार, वाणी प्रकाशन नई दिल्ली, 2003
6. भुतड़ा, डॉ0 घनश्यामः ''समकालीन हिन्दी कहानियों में नारी''